अष्टावक्र महागीता

(महर्षि अष्टावक्र-राजा जनक संवाद) रूपः कविता

संकल्पना व लेखन

- हेमंत सी. लोढ़ा

संशोधन

- अविनाश बागड़े
- सुधा राठौर

हेमंत सी. लोढ़ा

श्री हेमंत सी. लोढ़ा जी का जन्म १२ जून १९५६ को जोधपुर के जैन मध्यम परिवार में हुआ। मुम्बई से १९८० में आपने सीए किया। देश विदेश के भ्रमण के पश्चात् आपने २००२ में नागपुर में स्थायी रुप से रहने का निर्णय लिया। १९९४ में श्री जोन विजयरंगम जी की प्रेरणा से पढ़ने व जानने की आपकी रुचि और बलवती हुई। उसके बाद पुस्तकें पढ़ना आपके जीवन का अभिन्न अंग बन गया।

श्री हेमंत सी. लोढ़ा जी की अब तक चार पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। **Words of Wisdom (WoW), A to Z Entrepreneurship, Nectar of Wisdom।(NOW)** और श्रीमद्भगवद्गीता : रूप–कविता। अपनी चौथी पुस्तक में आपने गीता के ७०० श्लोकों का हिंदी के सरल दोहों में रूपांतर किया है। अष्टावक्र गीता–रूप कविता आपकी पाँचवीं पुस्तक है। इसमें आपने २०६ श्लोकों का हिंदी अनुवाद सरल दोहों के रूप में करने का प्रयास किया है।

श्री हेमंत सी. लोढ़ा जी समाजसेवा में भी अत्यंत रुचि रखते हैं। आप हेल्पलिंक चेरीटेबल ट्रस्ट के संस्थापक व प्रबंधक हैं। यह संस्था निर्धन बच्चों की पढ़ाई व एचआईवी पॉजीटिव अनाथ बच्चों के पुर्नस्थापन में सहयोग करती है।

श्री हेमंत सी. लोढ़ा जी अभी एसएमएस एनवोकेयर लिमिटेड में मुख्य प्रबंधक के रुप में कार्यरत हैं। यह संस्था पर्यावरण प्रबंधन के क्षेत्र में कार्य करती है।

श्री हेमंत सी. लोढ़ा जी को छोटे लेख (blogs) लिखने में रुचि है व अब तक आपके २५० से अधिक लेख online प्रकाशित हो चुके हैं जिन्हें www.hemant lodha.com पर पढ़ा जा सकता है। इनकी सभी पुस्तकें online amazon व google play पर उपलब्ध हैं।

सृजन बिंब प्रकाशन

ISBN : 978-81-934597-6-8

अष्टावक्र महागीता

रूप-कविता

(महर्षि अष्टावक्र - राजा जनक संवाद)

(संकल्पना - लेखन)

हेमंत सी. लोढ़ा

(संशोधन)

अविनाश बागड़े

सुधा राठौर

प्रकाशन

सृजन बिंब प्रकाशन, नागपुर

लेखन
हेमंत सी. लोढ़ा

संशोधन
अविनाश बागड़े
सुधा राठौर

वेबसाइट :
www.hemantlodha.com

प्रकाशन
सृजन बिंब प्रकाशन
301, सनशाइन - 2, के.टी. नगर,
काटोल रोड़, नागपुर - 440013
मोबा. : 8208529489 (रीमा)
9373271400 (अविनाश)
ई-मेल :
srijanbimb.2017@gmail.com

मुखपृष्ठ
सी.डी. शिवणकर

मुद्रक : **स्कॅन डॉट कम्प्युटर,**
नागपुर

ISBN
978-81-934597-6-8

प्रथम संस्करण : 2018
मूल्य : अमूल्य

© सर्वाधिकार लेखकाधीन

Ashtavakra Mahageeta's Roop - Kavita
(Translation into simple hindi poetry)

मंतव्य

श्री भगवद्गीता के ७०० दोहे तथा अलग-अलग विषयों पर ३०० दोहे बनाने के बाद, दोहे बनाने में एक अलग ही आत्मविश्वास का संचार हो गया था अतः मैं नये उपक्रम के बारे में सोचने लगा।

जहाँ चाह वहाँ राह।

मेरे पूजनीय पापा जी ने अष्टावक्र-जनक संवाद का हिंदी अनुवाद और उसकी व्याख्या लगभग दस साल पहले 'अहंब्रह्मस्मि' के नाम से प्रकाशित की थी। परन्तु जब भी मैंने उसे पढ़ने का प्रयत्न किया, दो-तीन पन्ने से ज़्यादा पढ़ नहीं पाया। अब जब पापा नहीं रहे तो मैंने सोचा कि अगर मैं अष्टावक्र की गीता को दोहों के रूप में रूपांतरण करता हूँ तो यह पापा को अर्थपूर्ण श्रद्धांजलि होगी और मैं भी अष्टावक्र की महागीता का मर्म समझ पाऊँगा ।

अष्टावक्र की गीता के पहले ही श्लोक में राजा जनक ऋषि अष्टावक्र से तीन प्रश्न पूछते हैं...

मै मुक्ति कैसे पाऊँ?...

ज्ञान कैसे पाऊँ?...

वैरागी कैसे बनूँ ?

जनक उवाच - (श्लोक)

कथं ज्ञानमवाप्नोति, कथं मुक्तिर्भविष्यति।

वैराग्य च कथं प्राप्तमेतद, ब्रूहि मम प्रभो॥ १-१॥

(दोहे में रूपांतरण)

कैसे पाऊँ मुक्ति मैं, कैसे पाऊँ ज्ञान।

कैसे वैरागी बनूँ, बतलाओ भगवान॥ १-१॥

इस पूरी पुस्तक में २०६ श्लोक, दोहों के रूप में रूपांतरित हैं। मेरा ऐसा मानना है कि मुक्ति, ज्ञान व वैराग्य को समझने के लिये इससे ज़्यादा सारगर्भित पुस्तक मिलना दुष्कर है।

मैंने अपने विचार मेरे दोहा-गुरु श्री अविनाशजी बागड़े के सम्मुख व्यक्त किये। उन्होंने इस उपक्रम में अपने योगदान के लिये सहर्ष स्वीकृति दे दी। मैं एक-एक दोहा WhatsApp पर लिख कर उन्हें भेजता गया जो संशोधन के साथ तुरंत वापस मिल जाता। विदुषी सुधाजी राठौर ने सभी दोहों को पुनः पढ़ कर आवश्यक संशोधन किया। मैं उनका भी तहेदिल से सदा आभारी रहूँगा।

मै विदुषी रीमा दीवान चड्ढा और साथ ही सृजन बिंब प्रकाशन का भी तहेदिल से शुक्रिया अदा करता हूँ जिनके अथक प्रयास के बिना यह संभव नहीं था।

हेमंत सी. लोढ़ा

अहं ब्रह्मास्मि

महाराजा जनक अपने काल के एक महान ज्ञानी थे। भारत ऋषियों की भूमि रही है। अनेक ऋषि, संत, महात्मा यहाँ रहते थे। जनक महाराज ज्ञानियों और ऋषियों के आश्रयदाता थे। एक श्रेष्ठ ज्ञानी होने के कारण सभी ऋषि इन्हें राजऋषि कहते थे। इनके दरबार की शोभा ज्ञानी जन थे। शास्त्रों और धर्मग्रंथ पर चर्चाएँ होती रहती थीं।

एक दिन एक नया प्रश्न उनके मानस पटल पर उभरा। परमात्मा या ब्रह्म क्या है? परब्रह्म क्या है? उन्होंने अनेक विद्वानों, ऋषियों, महात्माओं के समक्ष अपना प्रश्न रखा। इसका किसी से संतोषप्रद उत्तर प्राप्त नहीं कर सके। जिज्ञासा बहुत तीव्र हुई। अन्त में समस्त राज्य में यह घोषणा कराई गई कि जो कोई "ब्रह्म क्या है?" इसका संतोषप्रद समाधान करेगा, उसे स्वर्ण मण्डित सींगों की १००० गायें प्रदान की जाएगी। इससे भी कोई लाभ नहीं मिला, तब ज्ञानियों का एक सम्मेलन किया गया। अनेक देशों के ऋषि-ज्ञानी सम्मिलित हुए। तीन दिनों तक चर्चा चली। वेदव्यास तो जनक महाराज के प्रमुख ऋषि थे। चर्चा चलती रही पर किसी को संतोष नहीं हुआ।

तीन दिनों तक वेदव्यास घर नहीं लौटे, तब उनकी पत्नी बहुत व्याकुल हो गई। अंत में अपने पुत्र अष्टावक्र को अपने पिता की कुशलता जानने हेतु आदेश दिया। माताश्री की आज्ञा से अष्टावक्र अपनी मन्द चाल से चलते हुए राजमहल के द्वार पर पहुँचे तो द्वारपालों ने पहले तो टोका पर जब उन्हें ज्ञात हुआ कि वे वेदव्यास जी के पुत्र हैं तो उन्हें सभा-मंडप तक जाने की अनुमति दे दी।

अपनी मंद चाल से चलते हुए जब अष्टावक्र सभा-मंडप के द्वार तक पहुँचे और सभी ऋषियों की दृष्टि अष्टावक्र पर पड़ी,

तब इस अद्‌भुत आकृति के बालक को देख कर सभी हँसने लगे। जनक महाराज भी अष्टावक्र को देख कर अपनी हँसी रोक नहीं सके। अष्टावक्र ने सभी को हँसता देखा। तीव्र वेग से वे भी हँसने लगे।

अष्टावक्र की तीव्र वेग की हँसी को सुनकर जनक महाराज ने सभी को शान्त करके अष्टावक्र से हँसने का कारण पूछा।

अष्टावक्र ने प्रत्युत्तर में कहा, "महाराज मैं तो अपनी हँसी का कारण बताऊँगा, पर पहले आप यह तो बतायें कि ये सभी क्यों हँसे? और आप क्यों हँसे?"

राजा जनक - "तुम्हारी अजीब प्रकार की शारीरिक बनावट को देख कर ये सभी हँसे और मैं भी अपनी हँसी नहीं रोक सका।"

अष्टावक्र - "महाराज! मुझे ज्ञात हुआ था कि राजऋषि जनक महाराज के सभा भवन में अनेक ऋषियों-ज्ञानियों की यह सभा गत तीन दिवस से चल रही है। अगर किसी ज्ञानी के ज्ञान के दो शब्द का रस पान मैं कर सका तो मेरा जीवन धन्य हो जाएगा, इस हेतु मैं यहाँ चला आया। लेकिन यहाँ आकर मैंने देखा कि इस महासभा के किसी व्यक्ति ने मेरे ज्ञान को नहीं देखा? इन्होंने और आपने मेरे हाड़, माँस और रक्त की इस नश्वर देह को देखा, मेरे ज्ञान को नहीं, तब मुझे ज्ञात हुआ कि इस सभा में कोई ज्ञानी नहीं है, सभी चमार हैं, और आप चामराज हैं।"

अष्टावक्र के इस उत्तर से सभी ऋषि क्रोधित होने लगे तो अष्टावक्र ने कहा, "चमार कोई गाली नहीं है। चमार तो चमड़ी का परीक्षक होता है और ज्ञानी ज्ञान का परीक्षक आप किसी ने भी मेरे ज्ञान को नहीं देखा। ऐसा उल्लेख कर अष्टावक्र लौट गये और जनक महाराज के लिये जिज्ञासा छोड़ गये। जनक महाराज ने सभा विसर्जित की और अन्तःपुर में लौट गए।

महाराज जनक विचारों के अथाह सागर में गोते लगाने लगे। उन्हें यह समझ में आ गया कि यह अद्‌भुत आकृति का बालक अनंत ज्ञानी है। उसने कठोर सत्य को किस सुन्दरता से उजागर

किया। प्रत्येक जीव में अनेक विशेषताएँ होती हैं। हम अपने इन चक्षुओं से उन्हें देख नहीं पाते या इस प्रकार भी कह सकते हैं कि हम उन्हें देखने का प्रयत्न ही नहीं करते। मात्र बाह्य आकृति, रूप-रंग, वेश-भूषा आदि ही देखकर अपनी अपनी अवधारणा बना लेते हैं।

ज्ञान और शिक्षा में बहुत अन्तर है। गुरु से शिक्षा प्राप्त कर सांसारिक, व्यावहारिक, ऐतिहासिक, वैज्ञानिक ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। लेकिन ज्ञान तो आत्मा की पूँजी है। इस संसार में लाखों करोड़ों जीवों में कोई एक ज्ञानी होता है। मेरे पुण्योदय से मेरे राज्य में ऐसा महान आत्म ज्ञानी आया है। यह मेरा सौभाग्य है। मुझे इस अद्वितीय आत्मयोगी को ढूँढ़ कर, उसके ज्ञान रूपी अमृत का रसास्वादन करना चाहिए।

इसी उधेड़बुन में रात्रि समाप्त हुई। प्रातः स्नान, ध्यान, दैनिक कार्यो से निवृत्त हो, अश्वारूढ़ होकर, जनक ने महल से प्रस्थान किया। पता लगाने पर ज्ञात हुआ कि ऐसी विचित्र आकृति का बालक जंगल में एक गाय को चराता है। राजा उसकी खोज में जंगल की ओर चले। कुछ दूरी पर वह बालक दृष्टिगोचर हुआ। राजा ने समीप पहुँचकर उन्हें नमन किया। बालक ने ब्राह्मण कुल का होने के कारण राजा को आशीर्वाद दिया।

राजा ने बालक से ज्ञान दान की याचना प्रस्तुत की। बालक ने उत्तर दिया। "ज्ञान की शिक्षा समय आने पर दूँगा, प्रथम आप मुझे यह बताएँ कि आप इतने संतों, मुनियों, ऋषियों से गत तीन दिनों से क्या चर्चा कर रहे थे, फिर भी कोई निष्कर्ष नहीं निकला, ऐसा क्या प्रश्न है?"

जनक : प्रश्न बहुत ही जटिल है।

अष्टावक्र : राजन! प्रश्न क्या है?

जनक : ब्रह्म क्या है?

अष्टावक्र : राजन! प्रश्न तो बहुत साधारण है। इसका उत्तर तो इतना छोटा है कि अगर घोड़े की रकाब में बायाँ

पैर रखकर आप घोड़े पर बैठेंगे उतने सूक्ष्म समय में, मैं आपको इस प्रश्न का उत्तर दे दूँगा।

जनक : इतने जटिल प्रश्न का इतना सूक्ष्म उत्तर? यह कैसे सम्भव है?

अष्टावक्र : हाथ कंगन को आरसी क्या? आप घोड़े पर बैठिए, मैं उत्तर देता हूँ।

राजा जनक घोड़े पर सवार होते हैं और अष्टावक्र उत्तर देते है।

अष्टावक्र : "अहं ब्रह्मास्मि।" अर्थात मैं ही ब्रह्म हूँ। आत्मा ही परमात्मा है। आत्मा और परमात्मा में कोई भेद नहीं है।

जनक महाराज आश्चर्यचकित रह गये, उनके प्रश्न का उत्तर मिल गया। उनकी इच्छा पूर्ण हो गई। जनक महाराज तुरंत घोड़े से उतर कर, ज्ञान के पुंज अष्टावक्र के पावन चरणों में नत-मस्तक हो गए। अष्टावक्र को अश्वारूढ़ करा, राजमहल की ओर पैदल ही चल पड़े। राजमहल पहुँच कर सेवकों को आदेश दिया कि अष्टावक्र को स्नान करा कर नये वस्त्र आभूषण से सज्जित कर राजसभा भवन में लेकर पहुँचें।

जनक महाराज ने अष्टावक्र को रत्नजड़ित स्वर्ण सिंहासन पर बैठा कर, उनके चरणों में बैठ कर अपना गुरु पद प्रदान कर, आचार्य के अलंकार से अलंकृत किया। अब इनका नाम अष्टावक्राचार्य हो गया।

जनक महाराज ने जो-जो प्रश्न किये। शंकाएँ प्रस्तुत कीं, और अष्टावक्राचार्य ने जो उत्तर दिये वही "अष्टावक्राचार्य की महागीता" है। इसमें आत्मा, परमात्मा, ज्ञान और ज्ञानी के विषय में जैसा सुन्दर वर्णन है, वैसा अन्यत्र नहीं मिलता।

(स्व. चंचलमल लोढ़ा जी रचित "अहं ब्रह्मास्मि" से साभार)

पुस्त-प्रेरणा

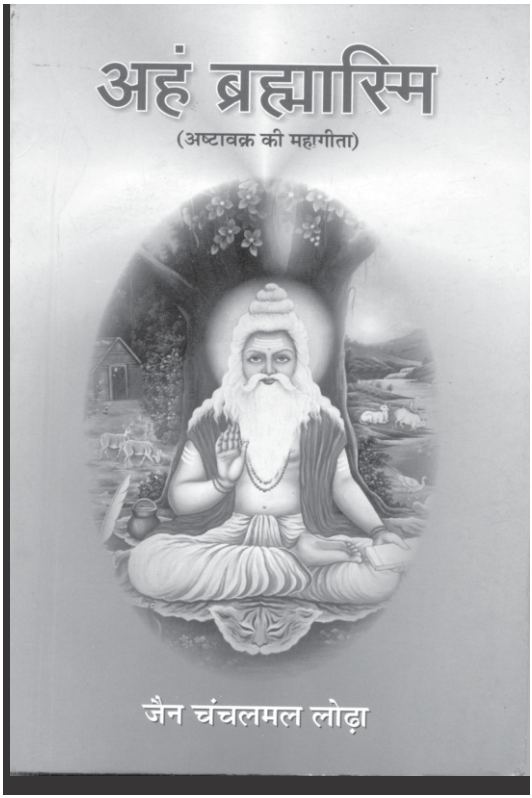

प्रकाशकीय

महाज्ञानी, महादार्शनिक, विद्वान, विशाल हृदय और सहनशील प्रवृत्ति के ऋषि थे अष्टावक्र। इनका शरीर आठ स्थानों से टेढ़ा था जिसके कारण इनका नाम अष्टावक्र पड़ा था।

सत्मार्ग दिखलानेवाले ऐसे महाज्ञानी सत्पुरुष को राजा जनक ने मिथिला के राजगुरु पद पर सुशोभित किया था।

ज्ञान, मुक्ति और वैराग्य के बारे में जानने को उत्सुक राजा जनक आत्म अनुसंधान करना चाहते थे। उनकी जिज्ञासा को देखते हुए ऋषि अष्टावक्र ने विद्वत्तापूर्ण दृष्टांत, आध्यात्मिक संवाद और शरीर की नश्वरता पर अकाट्य संवाद रखे। ऋषि अष्टावक्र और राजा जनक के बीच हुए विद्वत्तापूर्ण संवादों के संकलन को अष्टावक्र संहिता या अष्टावक्र गीता के नाम से जाना जाता है।

हमारे लिए यह अत्यंत गौरव का विषय है कि सीए हेमंत सी. लोढ़ा जी ने भारतीय दर्शन और आध्यात्म पर केंद्रित अष्टावक्र गीता के श्लोकों का सरल हिंदी दोहों में रूपांतर किया है। इस महत्वपूर्ण कार्य में अविनाश बागड़े जी और सुधा राठौर जी का सहयोग उन्हें मिला है। श्रीमद्भगवद्गीता रूप कविता की सफलता के बाद अष्टावक्र गीता रूप कविता का प्रकाशन करते हुए सृजन बिंब प्रकाशन हर्ष का अनुभव कर रहा है।

सरल हिंदी दोहों के रूप में यह आध्यात्मिक और दार्शनिक कृति सुधि पाठकों के लिए अमूल्य धरोहर साबित होगी इसी अपेक्षा के साथ हेमंत सी. लोढ़ा जी को सृजन बिंब प्रकाशन की हार्दिक शुभकामनाएँ!

अविनाश बागड़े

रीमा दीवान चड्ढा

सृजन बिंब प्रकाशन, नागपुर

अनुक्रम

अष्टावक्र महागीता १ ..... १३

अष्टावक्र महागीता २ ..... १८

अष्टावक्र महागीता ३ ..... २४

अष्टावक्र महागीता ४ ..... २७

अष्टावक्र महागीता ५ ..... २९

अष्टावक्र महागीता ६ ..... ३०

अष्टावक्र महागीता ७ ..... ३१

अष्टावक्र महागीता ८ ..... ३३

अष्टावक्र महागीता ९ ..... ३४

अष्टावक्र महागीता १० ..... ३६

अष्टावक्र महागीता ११ ..... ३८

अष्टावक्र महागीता १२ ..... ४०

अष्टावक्र महागीता १३ ..... ४२

अष्टावक्र महागीता १४ ..... ४४

अष्टावक्र महागीता १५ ..... ४५

अष्टावक्र महागीता १६ ..... ५०

अष्टावक्र महागीता १७ ..... ५३

अष्टावक्र महागीता १८ ..... ५८

अष्टावक्र महागीता १९ ..... ६०

अष्टावक्र महागीता २० ..... ६२

...समर्पण!

स्वर्गीय चंचलमल लोढ़ा

व

सिरे कंवर लोढ़ा

की

पुण्य स्मृति को सादर...!

ॐ

चंचलमल - सिरेकंवर, श्रद्धानत् ये माथ ।
तुम्हें समर्पित मात-पिता, स्मृति सदा ही साथ ।।

अष्टावक्र महागीता १

जनक उवाच

कथं ज्ञानमवाप्नोति, कथं मुक्तिर्भविष्यति ।
वैराग्य च कथं प्राप्तमेतद, ब्रूहि मम प्रभो ।।
कैसे पाऊँ मुक्ति मैं, कैसे पाऊँ ज्ञान ।
कैसे वैरागी बनूँ, बतलाओ भगवान ।।१-१।।

अष्टावक्र उवाच

मुक्तिमिच्छसि चेत्तात्, विषयान विषवत्त्यज ।
क्षमार्जवदयातोष, सत्यं पीयूषवद्भज ।।
चाह मुक्ति की हो अगर, विष विषयक ना चाह ।
दया, क्षमा, संतोष सत्, सरल ये अमृत राह ।।१-२।।

न पृथ्वी न जलं नाग्निर्न, वायुर्द्यौर्न वा भवान् ।
एषां साक्षिणमात्मानं, चिद्रूपं विद्धि मुक्तये ।।
धरती जल ना आग है, पवन न तू आकाश ।
चेतन साक्षी आत्मा, तू है मुक्त प्रकाश ।।१-३।।

यदि देहं पृथक् कृ त्य, चिति विश्राम्य तिष्ठसि ।
अधुनैव सुखी शान्तो, बन्धमुक्तो भविष्यसि ।।
अलग करे तू देह जो, चेतन को आराम ।
सुख और शांति झट मिले, मिले मुक्ति का धाम ।।१-४।।

न त्वं विप्रादिको वर्णः,नाश्रमी नाक्षगोचरः ।
असङ्गोऽसि निराकारो, विश्वसाक्षी सुखी भव ।।
वर्ण आश्रम तू नहीं, कोई सके न देख ।
निराकार संगी रहित, साक्षी भाव से देख ।।१-५।।

धर्माधर्मौ सुखं दुखं, मानसानि न ते विभो ।
न कर्तासि न भोक्तासि, मुक्त एवासि सर्वदा ।।
धर्म-अधर्म, सुख-दुःख सदा, मन से जुड़े न जान ।
ना तू भोगे ना करे, मुक्त सदा तू मान ।।१-६।।

एको द्रष्टासि सर्वस्य, मुक्तप्रायोऽसि सर्वदा ।
अयमेव हि ते बन्धो, द्रष्टारं पश्यसीतरम् ।।
सकल जगत के हो द्रष्टा, सदा मुक्त हो आप ।
किन्तु अन्य को देख के, बंधन समझे आप ।।१-७।।

अहं कर्तेत्यहंमान, महाकृष्णाहिदंशितः ।
नाहं कर्तेति विश्वासामृतं, पीत्वा सुखं भव ।।
जो खुद को कर्ता कहे, महासर्प फुफकार ।
नहीं जो कर्ता जानता, अमृत-सुख का द्वार ।।१-८।।

एको विशुद्धबोधोऽहं, इति निश्चयवह्निना ।
प्रज्वाल्याज्ञानगहनं, वीतशोकः सुखी भव ।।
मैं ही ज्ञान विशुद्ध हूँ, निश्चित जब ले जान ।
जलता वन अज्ञान का, शोकरहित सुख मान ।।१-९।।

यत्र विश्वमिदं भाति, कल्पितं रज्जुसर्पवत् ।
आनंदपरमानन्दः स, बोधस्त्वं सुखं चर ॥
रस्सी लगती सर्प सी, जग ये माया जान ।
अनुभव परमानन्द करे, उसको ही सुख मान ॥१-१०॥

मुक्ताभिमानी मुक्तो हि, बद्धो बद्धाभिमान्यपि ।
किवदन्तीह सत्येयं, या मतिः सा गतिर्भवेत् ॥
अहं मुक्त ही मुक्त है, बद्ध सोच बंध जाय ।
यही कहावत सत्य है, मति जैसी गति पाय ॥१-११॥

आत्मा साक्षी विभुः, पूर्ण एको मुक्तश्चिदक्रियः ।
असंगो निःस्पृहः शान्तो, भ्रमात्संसारवानिव ॥
साक्षी आत्मा सब जगह, पूर्ण, सजीव, निष्काम ।
मुक्त, शांत, इच्छारहित, लौकिक भ्रमित तमाम ॥१-१२॥

कूटस्थं बोधमद्वैत - मात्मानं परिभावय ।
आभासोऽहं भ्रमं मुक्त्वा, भावं बाह्यमथान्तरम् ॥
तटस्थ, चेतन, एक है, आत्मिक चिंतन भाव ।
मैं के भ्रम से मुक्त रहे, बाह्य जगत स्वभाव ॥१-१३॥

देहाभिमानपाशेन चिरं, बद्धोऽसि पुत्रक ।
बोधोऽहं ज्ञानखंगेन, तन्निष्कृत्य सुखी भव ॥
देह-दर्प चिरकाल से, पुत्र ये बंधन जान ।
काट ज्ञान की धार से, सुख है इसमें मान ॥१-१४॥

निःसंगो निष्क्रियोऽसि, त्वं स्वप्रकाशो निरंजनः ।
अयमेव हि ते बन्धः, समाधिमनुतिष्ठति ॥
निष्क्रिय और निःसंग तुम, स्थिर प्रकाश निर्दोष ।
करे ध्यान मन शांत ये, है बंधन का दोष ॥१-१५॥

त्वया व्याप्तमिदं विश्वं, त्वयि प्रोतं यथार्थतः ।
शुद्धबुद्धस्वरुपस्त्वं मा, गमः क्षुद्रचित्तताम् ॥
विश्व यह तुमने रचा, तुम ही इसके नाथ ।
ज्ञान-रूप तुम शुद्ध भी, हीन भाव ना साथ ॥१-१६॥

निरपेक्षो निर्विकारो, निर्भरः शीतलाशयः ।
अगाधबुद्धिरक्षुब्धो भव, चिन्मात्रवासनः ॥
विचारहीन, इच्छारहित, ठोस व शीतल भाव ।
बुद्धिमान तुम हो बहुत, चेतन, शांत स्वभाव ॥१-१७॥

साकारमनृतं विद्धि, निराकारं तु निश्चलं ।
एतत्तत्त्वोपदेशेन, न पुनर्भवसंभवः ॥
मिथ्या हर आकार है, निराकार को मान ।
तत्व यही तू जान ले, पुनर्जन्म नहीं जान ॥१-१८॥

यथैवादर्शमध्यस्थे, रूपेऽन्तः परितस्तु सः ।
तथैवाऽस्मिन् शरीरेऽन्तः, परितः परमेश्वरः ॥
बसे रूप दर्पण में ज्यूँ, बाहर रहे समान ।
वैसे अंतर ईश बसे, बाहर भी भगवान ॥१-१९॥

एकं सर्वगतं व्योम, बहिरन्तर्यथा घटे ।
नित्यं निरन्तरं ब्रह्म, सर्वभूतगणे तथा ।।
घट के अंदर बाह्य भी, इक सा ही आकाश ।
वैसे ही परमात्मा, सब में करता वास ।।१-२०।।

अष्टावक्र महागीता २

जनक उवाच

अहो निरंजनः शान्तो, बोधोऽहं प्रकृतेः परः ।
एतावंतमहं कालं, मोहेनैव विडम्बितः ॥
ओह! निष्कलंक, शांत मैं, प्रकृति परे सुजान ।
भ्रम में मैं अब तक रहा, पड़े मोह में प्राण ॥२-१॥

यथा प्रकाशयाम्येको, देहमेनो तथा जगत् ।
अतो मम जगत्सर्वमथवा न च किंचन ॥
यूँ मैं रोशन तन करूँ, जग भी रोशन होय ।
पूर्ण जगत या मैं बसूँ, या फिर जग ना होय ॥२-२॥

सशरीरमहो विश्वं, परित्यज्य मयाऽधुना ।
कुतश्चित् कौशलादेव, परमात्मा विलोक्यते ॥
तनसहित मै त्याग दूँ, यह सारा संसार ।
कौशल कुछ ऐसा मिले, खुले प्रभु का द्वार ॥२-३॥

यथा न तोयतो भिन्नास्-तरंगाः फेन बुदबुदाः ।
आत्मनो न तथा भिन्नं विश्वमात्मविनिर्गतम् ॥
अलग नहीं जल लहर से, बुल्ला फेन समान ।
अलग आत्मा भी नहीं, जगत एक ही मान ॥२-४॥

तंतुमात्रो भवेदेव, पटो यद्वद्विचारितः ।
आत्मतन्मात्रमेवेदं, तद्वद्विश्वं विचारितम् ।।
वस्त्र देखिये ग़ौर से, धागों का है जाल ।
आत्माओं का जाल ही, सकल जगत का हाल ।।२-५।।

यथैवेक्षुरसे क्लृप्ता, तेन व्याप्तैव शर्करा ।
तथा विश्वं मयि क्लृप्तं, मया व्याप्तं निरन्तरम् ।।
रस गन्ने का रूप हैं, चीनी भी रस-रूप ।
वैसे जग मुझसे बना, मैं ही जगत-स्वरूप ।।२-६।।

आत्माऽज्ञानाज्जगद्भाति, आत्मज्ञानान्न भासते ।
रज्ज्वज्ञानादहिर्भाति, तज्ज्ञानाद्भासते न हि ।।
आत्म लगे जग, ज्ञान बिन, रहे न जग, हो ज्ञान ।
रस्सी लगती सर्प सी, सर्प लुप्त, जब ध्यान ।।२-७।।

प्रकाशो मे निजं रूपं, नातिरिक्तोऽस्म्यहं ततः ।
यदा प्रकाशते विश्वं, तदाऽहंभास एव हि ।।
मेरा रूप प्रकाश है, नहीं परे पहचान ।
ज्यूँ प्रकाशित जग करे, मैं की भी पहचान ।।२-८।।

अहो विकल्पितं, विश्वंज्ञानान्मयि भासते ।
रूप्यं शुक्तौ फणी रज्ज्वौ, वारि सूर्यकरे यथा ।।
कल्पित जग मुझ में दिखे, कारण है अज्ञान ।
सर्प-सीप रस्सी रजत, सूर्य किरण जल भान ।।२-९।।

मत्तो विनिर्गतं विश्वं, मय्येव लयमेष्यति ।
मृदि कुम्भो जले वीचिः, कनके कटकं यथा ॥
मुझसे ही है जग बना, मुझमें होय विलीन ।
घट माटी, जल में लहर, कड़ा कनक में लीन ॥२-१०॥

अहो अहं नमो मह्यं, विनाशो यस्य नास्ति मे ।
ब्रह्मादिस्तंबपर्यन्तं, जगन्नाशोऽपि तिष्ठतः ॥
अचरज है! ख़ुद को नमन, जीऊँ विश्व - विनाश ।
मिट जाये तृण ब्रह्म सब, मगर रहूँ आकाश ॥२-११॥

अहो अहं नमो मह्यं, एकोऽहं देहवानपि ।
क्वचिन्न गन्ता नागन्ता, व्याप्य विश्वमवस्थितः ॥
अचरज है! मुझको नमन, हूँ मैं ही सशरीर ।
आवे-जावे जो नहीं, फैला जग तस्वीर ॥२-१२॥

अहो अहं नमो मह्यं, दक्षो नास्तीह मत्समः ।
असंस्पृश्य शरीरेण, येन विश्वं चिरं धृतम् ॥
अति आश्चर्य! नमन मुझे, कुशल अनोखा जान ।
बिना स्पर्श इस देह के, जग धारण को मान ॥२-१३॥

अहो अहं नमो मह्यं, यस्य मे नास्ति किंचन ।
अथवा यस्य मे सर्वं यद् वाङ्मनसगोचरम् ॥
अचरज है! मुझको नमन, जो कुछ रखे न पास ।
या मन-वाणी से समझ, उसका है आभास ॥२-१४॥

ज्ञानं ज्ञेयं तथा ज्ञात्ता, त्रितयं नास्ति वास्तवं ।
अज्ञानाद् भाति यत्रेदं, सोऽहमस्मि निरंजनः ।।
ज्ञान, ज्ञेय ज्ञाता नहीं, सत्य न तीनों मान ।
यह केवल अज्ञानता, शुद्ध रूप मैं जान ।।२-१५।।

द्वैतमूलमहो दुःखं नान्य-त्तस्याऽस्ति भेषजं ।
दृश्यमेतन् मृषा सर्वं, एकोऽहं चिद्रसोमलः ।।
द्वैत दुखों का मूल है, ना इसका उपचार ।
जो दिखता वो भूल है, चेतन निर्मल सार ।२-१६।।

बोधमात्रोऽहमज्ञानाद्, उपाधिः कल्पितो मया ।
एवं विमृशतो नित्यं, निर्विकल्पे स्थितिर्मम ।।
इक में ज्ञान स्वरुप हूँ, गोचर हूँ अज्ञान ।
नित मेरा अस्तित्व है, कारणरहित सुजान ।।२-१७।।

न मे बन्धोऽस्ति मोक्षो वा भ्रान्तिः शान्तो निराश्रया ।
अहो मयि स्थितं विश्वं वस्तुतो न मयि स्थितम् ।।
भ्रम ना बंधन-मुक्ति का, शांत निराश्रय जान ।
जगत नहीं मन में बसा, यही वास्तविक मान ।।२-१८।।

सशरीरमिदं विश्वं न किंचिदिति निश्चितं ।
शुद्धचिन्मात्र आत्मा च तत्कस्मिन् कल्पनाधुना ।।
साथ देह के जगत भी, अस्तित्वहीन पहचान ।
शुद्ध ये चेतन आत्मा, है सब शेष गुमान ।।२-१९।।

शरीरं स्वर्गनरकौ बन्धमोक्षौ भयं तथा ।
कल्पनामात्रमेवैतत् किं मे कार्यं चिदात्मनः ॥
स्वर्ग-नर्क ये देह सब, बंध मोक्ष भय नाम ।
बात कल्पना की सभी, क्या चेतन का काम ॥२-२०॥

अहो जनसमूहेऽपि न द्वैतं पश्यतो मम ।
अरण्यमिव संवृत्तं क्व रतिं करवाण्यहम् ॥
देखूँ जब मैं भीड़ को, अचरज दिखे न द्वैत ।
जैसे निर्जन सब लगे, मोह नहीं अद्वैत ॥२-२१॥

नाहं देहो न मे देहो जीवो नाहमहं हि चित् ।
अयमेव हि मे बन्ध आसीद्या जीविते स्पृहा ॥
नहीं देह ना देह का, जीव न मगर सचेत ।
मन में इच्छा जीव की, बंधन यही संकेत ॥२-२२॥

अहो भुवनकल्लोलै - विचित्रैर्द्राक् समुत्थितं ।
मय्यनंतमहांभोधौ चित्तवाते समुद्यते ॥
महा सिंधु मन का जहाँ, उठती लहर हज़ार ।
पूर्ण जगत हिलडुल करे, मन विचलित हर बार ॥२-२३॥

मय्यनंतमहांभोधौ चित्तवाते प्रशाम्यति ।
अभाग्याज्जीववणिजो जगत्पोतो विनश्वरः ॥
महा-सिंधु मन में उठे, जो थम जाय विचार ।
जीव स्वरूप जहाज़ का, बेड़ा होता पार ॥२-२४॥

मय्यनन्तमहांभोधा - वाश्चर्यं जीववीचयः ।
उद्यन्ति घ्नन्ति खेलन्ति प्रविशन्ति स्वभावतः ।।

ओह महासागर अनन्त, मन मम् उठते भाव ।
अंतस में रमते मिले, जाकर बने स्वभाव ।।२-२५।।

अष्टावक्र महागीता ३

अष्टावक्र उवाच

अविनाशिनमात्मानं एकं विज्ञाय तत्त्वतः ।
तवात्मज्ञानस्य धीरस्य कथमर्थार्जने रतिः ॥
इक अविनाशी आत्मा, जानो ऐसा ज्ञान ।
बुद्धिमान यह जान ले, धन अर्जन नहीं शान ॥३-१॥

आत्माज्ञानादहो प्रीतिर्विषय भ्रमगोचरे ।
शुक्तेरज्ञानतो लोभो यथा रजतविभ्रमे ॥
सदा आत्म अज्ञान अरू, भ्रम से विषय लगाव ।
सीप कभी चाँदी लगे, लोभ जगावे भाव ॥३-२॥

विश्वं स्फुरति यत्रेदं तरङ्गा इव सागरे ।
सोऽहमस्मीति विज्ञाय किं दीन इव धावसि ॥
उद्भव होता है जगत, सागर लहर उफान ।
मैं ही हूँ यह जानकर, भाग न दीन समान ॥३-३॥

श्रुत्वापि शुद्धचैतन्य आत्मानमतिसुन्दरं ।
उपस्थेऽत्यन्तसंसक्तो मालिन्यमधिगच्छति ॥
शुद्ध है चेतन आत्मा, सुंदर है सब जान ।
फिर क्यों आसक्ति तले, दूषित करते प्राण ॥३-४॥

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
मुनेर्जानत आश्चर्यं ममत्वमनुवर्तते ।।
जीव सभी मुझमें बसे, बसता मैं हर जीव ।
अचरज मुनि यह जानता, फिर भी मोह की नींव ।।३-५।।

आस्थितः परमाद्वैतं मोक्षार्थेऽपि व्यवस्थितः ।
आश्चर्यं कामवशगो विकलः केलिशिक्षया ।।
आश्रय चाहे ब्रह्म का, जिसे मोक्ष का ज्ञान ।
विषय वासना से गिरे, अचरज इसको मान ।।३-६।।

उद्भूतं ज्ञानदुर्मित्रम - वधार्यातिदुर्बलः ।
आश्चर्यं काममाकाङ्क्षेत् कालमन्तमनुश्रितः ।।
ज्ञान-शत्रु का हो उदय, अंत समय आघात ।
कामवासना मन रखे, यह अचरज की बात ।।३-७।।

इहामुत्र विरक्तस्य नित्यानित्यविवेकिनः ।
आश्चर्यं मोक्षकामस्य मोक्षाद् एव विभीषिका ।।
भाव मुक्ति है जगत से, नित्य- अनित्य का ज्ञान ।
चाह मोक्ष की है प्रबल, अचरज डर का भान ।।३-८।।

धीरस्तु भोज्यमानोऽपि पीड्यमानोऽपि सर्वदा ।
आत्मानं केवलं पश्यन् न तुष्यति न कुप्यति ।।
भोजन या पीड़ा मिले, बुद्धिमान सम भाव ।
ना ख़ुश हो ना हो दुखी, आत्म दरश का चाव ।।३-९।।

चेष्टमानं शरीरं स्वं पश्यत्यन्यशरीरवत् ।
संस्तवे चापि निन्दायां कथं क्षुभ्येत् महाशयः ।।
कार्यशील निज देह है, दूजी देह समान ।
निंदा हो आभार हो, विचलित करे न जान ।।३-१०।।

मायामात्रमिदं विश्वं पश्यन् विगतकौतुकः ।
अपि सन्निहिते मृत्यौ कथं त्रस्यति धीरधीः ।।
जिज्ञासाओं के बिना, जग मायावी जान ।
मौत खड़ी पर डर नहीं, स्थिर बुद्धि पहचान ।।३-११।।

निःस्पृहं मानसं यस्य नैराश्येऽपि महात्मनः ।
तस्यात्मज्ञानतृप्तस्य तुलना केन जायते ।।
है निराश, इच्छा रहित, महा आत्मा जान ।
ज्ञान प्रकाशित तृप्त भी, तुलना नहीं सुजान ।।३-१२।।

स्वभावाद् एव जानानो दृश्यमेतन्न किंचन ।
इदं ग्राह्यमिदं त्याज्यं स किं पश्यति धीरधीः ।।
दृश्य जगत को जानिये, ऐसा रहे स्वभाव ।
ग्रहण करे या त्याग दे, क्या है धीर प्रभाव ।।३-१३।।

अंतस्त्यक्तकषायस्य निर्द्वन्द्वस्य निराशिषः ।
यदृच्छयागतो भोगो न दुःखाय न तुष्टये ।।
आसक्ति का त्याग करें, शक-संदेह न काम ।
भोग भले आते रहें, ना दुख-सुख का नाम ।।३-१४।।

अष्टावक्र महागीता ४

अष्टावक्र उवाच

हन्तात्मज्ञस्य धीरस्य खेलतो भोगलीलया ।
न हि संसारवाहीकै - र्मूढैः सह समानतः ।।
आत्मज्ञानी खेलता, लीला भोग समान ।
सांसारिक जन से नहीं, तुलना का अभिमान ।।४-१।।

यत् पदं प्रेप्सवो दीनाः शक्राद्याः सर्वदेवताः ।
अहो तत्र स्थितो योगी न हर्षमुपगच्छति ।।
पद जो चाहे देवता, मिल जाये संसार ।
स्थिर योगी रहता सदा, हर पल हर्ष अपार ।।४-२।।

तज्ज्ञस्य पुण्यपापाभ्यां स्पर्शो ह्यन्तर्न जायते ।
न ह्याकाशस्य धूमेन दृश्यमानापि सङ्गतिः ।।
पुण्य-पाप का ब्रह्म से, नाता नहीं सुजान ।
जैसे गगन धुआँ दिखे, दृश्य मात्र पहचान ।।४-३।।

आत्मैवेदं जगत्सर्वं ज्ञातं येन महात्मना ।
यदृच्छया वर्तमानं तं निषेद्धुं क्षमेत कः ।।
जगत रुप जो जानता, महाआत्म का ज्ञान ।
कौन रोक उसकी सके, वर्तमान पहचान ।।४-४।।

आब्रह्मस्तंबपर्यन्ते भूतग्रामे चतुर्विधे ।
विज्ञस्यैव हि सामर्थ्य - मिच्छानिच्छाविवर्जने ।।
तिनकों से हैं ब्रह्म तक, चार तरह के प्राण ।
आत्म - ज्ञान समरथ सदा, इच्छा ना बलवान ।।४-५।।

आत्मानमद्वयं कश्चिज् - जानाति जगदीश्वरं ।
यद् वेत्ति तत्स कुरुते न भयं तस्य कुत्रचित् ।।
इक आत्मा, बिरला कहे, आत्म जगत भगवान ।
जो है ऐसा जानता, वह निर्भय बलवान ।।४-६।।

अष्टावक्र महागीता ५

अष्टावक्र उवाच

न ते संगोऽस्ति केनापि किं शुद्धस्त्यक्तुमिच्छसि ।
संघातविलयं कुर्वन् - नेवमेव लयं व्रज ।।
साथ नहीं पर शुद्ध है, तजने का क्या काम ।
संघ सोच को त्याग कर, ब्रह्म लीन हो धाम ।।५-१।।

उदेति भवतो विश्वं वारिधेरिव बुद्बुदः ।
इति ज्ञात्वैकमात्मानं एवमेव लयं व्रज ।।
ज्यूँ सागर में बुलबुले, जग आत्मा से जान ।
योग मिले उस ब्रह्म से, लो इसका संज्ञान ।।५-२।।

प्रत्यक्षमप्यवस्तुत्वाद् विश्वं नास्त्यमले त्वयि ।
रज्जुसर्प इव व्यक्तं एवमेव लयं व्रज ।।
मिथ्या जग प्रत्यक्ष दिखे, रस्सी-सर्प का भान ।
योग मिले उस ब्रह्म से, ले लो ऐसा ज्ञान ।।५-३।।

समदुःखसुखः पूर्ण आशानैराश्ययोः समः ।
समजीवितमृत्युः सन् - नेवमेव लयं व्रज ।।
आस-निराश, सुख दुख सम, जीवन-मृत्यु समान ।
मिले योग उस ब्रह्म से, ले लो ऐसा ज्ञान ।।५-४।।

अष्टावक्र महागीता ६

अष्टावक्र उवाच

आकाशवदनन्तोऽहं घटवत् प्राकृतं जगत् ।
इति ज्ञानं तथैतस्य न त्यागो न ग्रहो लयः ॥
मैं अनन्त आकाश हूँ, है जग घड़े समान ।
नहीं ग्रहण ना त्याग हो, एकरूप हो ज्ञान ॥६-१॥

महोदधिरिवाहं स प्रपंचो वीचिसऽन्निभः ।
इति ज्ञानं तथैतस्य न त्यागो न ग्रहो लयः ॥
महासिंधु सा मैं यहाँ, जग है लहर समान ।
नहीं ग्रहण ना त्याग हो, एकरूप हो ज्ञान ॥६-२॥

अहं स शुक्तिसङ्काशो रूप्यवद् विश्वकल्पना ।
इति ज्ञानं तथैतस्य न त्यागो न ग्रहो लयः ॥
सीप रजत जैसी दिखे, मुझमें जग यह मान ।
नहीं ग्रहण ना त्याग हो, एकरूप हो ज्ञान ॥६-३॥

अहं वा सर्वभूतेषु सर्वभूतान्यथो मयि ।
इति ज्ञानं तथैतस्य न त्यागो न ग्रहो लयः ॥
सब जीवों में मैं बसा, सब में मेरे प्राण ।
नहीं ग्रहण ना त्याग हो, एकरूप हो ज्ञान ॥६-४॥

अष्टावक्र महागीता ७

जनक उवाच

मय्यनंतमहांभोधौ विश्वपोत इतस्ततः ।
भ्रमति स्वांतवातेन न ममास्त्यसहिष्णुता ।।
महासिंधु सा मैं यहाँ, जैसे जगत जहाज़ ।
इधर-उधर वो डोलता, विघ्न पड़े ना काज ।।७-१।।

मय्यनंतमहांभोधौ जगद्वीचिः स्वभावतः ।
उदेतु वास्तमायातु न मे वृद्धिर्न च क्षतिः ।।
महासिंधु सा मैं यहाँ, जग ज्यूँ लहर स्वभाव ।
अस्त-उदय माया सरिस, घटे-बढ़े ना भाव ।।७-२।।

मय्यनंतमहांभोधौ विश्वं नाम विकल्पना ।
अतिशांतो निराकार एतदेवाहमास्थितः ।।
महासिंधु सा मैं यहाँ, सपना जगत सुजान ।
निराकार मैं शांत हूँ, शाश्वत मेरी शान ।।७-३।।

नात्मा भावेषु नो भावस्-तत्रानन्ते निरंजने ।
इत्यसक्तोऽस्पृहः शान्त एतदेवाहमास्थितः ।।
मैं या दूजा भाव ना, नहीं सदोष, विशाल ।
शांत रुप ही मैं रहूँ, शाश्वत मेरा काल ।।७-४।।

अहो चिन्मात्रमेवाहं इन्द्रजालोपमं जगत् ।
अतो मम कथं कुत्र हेयोपादेयकल्पना ।।

इन्द्रजाल के ही सदा, मैं और जादू - जाल ।
क्यों कर ऐसी कल्पना, अच्छा-बुरा सवाल ।।७-५।।

अष्टावक्र महागीता ८

अष्टावक्र उवाच

तदा बन्धो यदा चित्तं किन्चिद् वांछति शोचति ।
किंचिन् मुंचति गृण्हाति किंचिद् हृष्यति कुप्यति ।।
शोक करे इच्छा करे, करे ग्रहण या त्याग ।
दुखी बने या सुख मिले, मन बन्धन का भाग ।।८-१।।

तदा मुक्तिर्यदा चित्तं न वांछति न शोचति ।
न मुंचति न गृण्हाति न हृष्यति न कुप्यति ।।
मन की मुक्ति मान तभी, ना इच्छा ना शोक ।
ग्रहण-त्याग करता नहीं, हर्ष-क्रोध नहीं लोक ।।८-२।।

तदा बन्धो यदा चित्तं सक्तं काश्वपि दृष्टिषु ।
तदा मोक्षो यदा चित्तम-सक्तं सर्वदृष्टिषु ।।
बंधन है जब मन फँसा, जो देखा हो प्यार ।
आसक्ति जब हो नहीं, समझ मोक्ष का द्वार ।।८-३।।

यदा नाहं तदा मोक्षो यदाहं बन्धनं तदा ।
मत्वेति हेलया किंचिन्-मा गृहाण विमुंच मा ।।
मैं नहीं तो मोक्ष है, मैं में बंधन जान ।
ना त्यागो न ग्रहण करो, ले लो ऐसा ज्ञान ।।८-४।।

अष्टावक्र महागीता ९

अष्टावक्र उवाच

क्रिताकृ ते च द्वन्द्वानि कदा शान्तानि कस्य वा ।
एवं ज्ञात्वेह निर्वेदाद् भव त्यागपरोऽव्रती ॥
करूँ ना करूँ द्वन्द बड़ा, शांति मिले ना जान ।
त्याग सभी वैराग्य ले, ऐसे नियम न मान ॥९-१॥

कस्यापि तात धन्यस्य लोकचेष्टावलोकनात् ।
जीवितेच्छा बुभुक्षा च बुभुत्सोपशमं गताः ॥
व्यर्थ चेष्टा लोक की, धन्य पुरुष ही जान ।
चाहत जीवन की मिटे, भोज-भोग ना भान ॥९-२॥

अनित्यं सर्वमेवेदं तापत्रयदूषितं ।
असारं निन्दितं हेयमि-ति निश्चित्य शाम्यति ॥
कुछ भी है टिकता नहीं, सब दोषों का जाल ।
सारहीन, निंदा करें, शांति धर्म को पाल ॥९-३॥

कोऽसौ कालो वयः किं वा यत्र द्वन्द्वानि नो नृणां ।
तान्युपेक्ष्य यथाप्राप्तवर्ती सिद्धिमवाप्नुयात् ॥
उम्र, समय वह कौन सा, नहीं संशय का नाम ।
रखे उपेक्षित भाव जो, मिले सिद्ध का धाम ॥९-४॥

नाना मतं महर्षीणां साधूनां योगिनां तथा ।
दृष्ट्वा निर्वेदमापन्नः को न शाम्यति मानवः ।।
ऋषि साधु योगी कई, मत है जहाँ अनेक ।
कैसे वैरागी न हो, शांत मनस्वी नेक ।।९-५।।

कृत्वा मूर्तिपरिज्ञानं चैतन्यस्य न किं गुरुः ।
निर्वेदसमतायुक्त्या यस्तारयति संसृतेः ।।
ज्ञान चित्त का हो जिसे, गुरु है ऐसा कौन ।
करे मुक्त बंधन से जो, समता युक्त है मौन ।।९-६।।

पश्य भूतविकारांस्त्वं भूतमात्रान् यथार्थतः ।
तत्क्षणाद् बन्धनिर्मुक्तः स्वरूपस्थो भविष्यसि ।।
बदले मात्रा तत्व की, पैदा होत विकार ।
मुक्त ज्ञान ऐसा करे, होवे बेड़ा पार ।।९-७।।

वासना एव संसार इति सर्वा विमुंच ताः ।
तत्त्यागो वासनात्यागा-तित्थितिरद्य यथा तथा ।।
इच्छा ही संसार है, कर लो उसका त्याग ।
सब त्यागो इच्छा तजे, स्थापित होकर जाग ।।९-८।।

अष्टावक्र महागीता १०

अष्टावक्र उवाच

विहाय वैरिणं काममक्रोधं चानर्थसंकुलं ।
धर्ममप्येतयोर्हेतुं सर्वत्रानादरं कुरु ॥
त्याग कामना अर्थ भी, धन-अर्जन के नाग ।
धर्म त्याग से युक्त हो, हो विरक्ति अनुराग ॥१०-१॥

स्वप्नेन्द्रजालवत् पश्य दिनानि त्रीणि पंच वा ।
मित्रक्षेत्रधनागार - दारदायादिसंपदः ॥
तीन पाँच दिन ही टिके, लगे स्वप्न का जाल ।
जर, ज़मीन या मित्र हो, या फिर दूजा माल ॥१०-२॥

यत्र यत्र भवेत्तृष्णा संसारं विद्धि तत्र वै ।
प्रौढवैराग्यमाश्रित्य वीततृष्णः सुखी भव ॥
आसक्ति होती जहाँ, समझ वही संसार ।
साथ जहाँ बैराग है, तृष्णा रहित विचार ॥१०-३॥

तृष्णामात्रात्मको बन्धस्-तन्नाशो मोक्ष उच्यते ।
भवासंसक्तिमात्रेण प्राप्तितुष्टिर्मुहुर्मुहुः ॥
बंधन केवल कामना, मोक्ष मिले हो नाश ।
मात्र विरक्ति से मिले, आनन्दित आभास ॥१०-४॥

त्वमेकश्चेतनः शुद्धो जडं विश्वमसत्तथा ।
अविद्यापि न किंचित्सा का बुभुत्सा तथापि ते ।।
तुम ही चेतन शुद्ध हो, जड़ मिथ्या संसार ।
लेशमात्र अज्ञान नहीं, जानो नहीं विचार ।।१०-५।।

राज्यं सुताः कलत्राणि शरीराणि सुखानि च ।
संसक्तस्यापि नष्टानि तव जन्मनि जन्मनि ।।
पुत्र, राज, स्त्री, तन-मन भी, सब मिलें कई बार ।
कितनी भी आसक्ति हो, मिट जाते हर बार ।।१०-६।।

अलमर्थेन कामेन सुकृ तेनापि कर्मणा ।
एभ्यः संसारकान्तारे न विश्रान्तमभून् मनः ।।
धन अपार या कामना, या शुभ काम हज़ार ।
जग माया कोई रहे, हो ना शांत विचार ।।१०-७।।

कृ तं न कति जन्मानि कायेन मनसा गिरा ।
दुःखमायासदं कर्म तदद्याप्युपरम्यताम् ।।
व्यर्थ अनेकों जन्म किये, काया मन का घात ।
भोग सब दुख कर्म के, हो विरक्ति अब बात ।।१०-८।।

अष्टावक्र महागीता ११

अष्टावक्र उवाच

भावाभावविकारश्च स्वभावादिति निश्चयी ।
निर्विकारो गतक्लेशः सुखेनैवोपशाम्यति ।।
जनम-मरण विकार समझ, स्वाभाविक है जान ।
निर्विकार हो क्लेशरहित, सुख-शांति का भान ।।११-१।।

ईश्वरः सर्वनिर्माता नेहान्य इति निश्चयी ।
अन्तर्गलितसर्वाशः शान्तः क्वापि न सज्जते ।।
निर्माता ईश्वर सदा, निश्चित ऐसा जान ।
अंत आंतरिक चाह का, शांति का हो भान ।।११-२।।

आपदः संपदः काले दैवादेवेति निश्चयी ।
तृप्तः स्वस्थेन्द्रियो नित्यं न वान्छति न शोचति ।।
सुख-दुख ऐसे काल है, पूर्व कर्म अनुसार ।
रहे संयमित इन्द्रियाँ, शोक न चाह न भार ।।११-३।।

सुखदुःखे जन्ममृत्यू दैवादेवेति निश्चयी ।
साध्यादर्शी निरायासः कुर्वन्नपि न लिप्यते ।।
जन्म-मरण, सुख-दुख सदा, पूर्व कर्म अनुसार ।
कर्म करें फल चाह बिन, लिप्त न हो बेकार ।।११-४।।

चिन्तया जायते दुःखं नान्यथेहेति निश्चयी ।
तया हीनः सुखी शान्तः सर्वत्र गलितस्पृहः ।।
चिंता से ही दुख मिले, जो निश्चित ले जान ।
शांत सुखी हर पल रहे, इच्छारहित सुजान ।।११-५।।

नाहं देहो न मे देहो बोधोऽहमिति निश्चयी ।
कैवल्यं इव संप्राप्तो न स्मरत्यकृ तं कृ तम् ।।
तन मेरा ना देह मैं, रखता जो यह ज्ञान ।
उसको ही मुक्ति मिले, कर्म - अकर्म ना भान ।।११-६।।

आब्रह्मस्तंबपर्यन्तं अहमेवेति निश्चयी ।
निर्विकल्पः शुचिः शान्तः प्राप्ताप्राप्तविनिर्वृतः ।।
तृण-ब्रह्मा हूँ मैं सकल, जो ले निश्चित जान ।
शुद्ध-शांत इच्छा रहित, प्राप्ति-अप्राप्ति समान ।।११-७।।

नाश्चर्यमिदं विश्वं न किंचिदिति निश्चयी ।
निर्वासनः स्फूर्तिमात्रो न किंचिदिव शाम्यति ।।
जग अचरज पर है नही, जो जाने यह सार ।
जीवित पर इच्छा रहित, पाये शांति अपार ।।११-८।।

अष्टावक्र महागीता १२

जनक उवाच

कायकृत्यासहः पूर्वं ततो वाग्विस्तरासहः ।
अथ चिन्तासहस्तस्माद् एवमेवाहमास्थितः ॥

बैरागी हो कर्म से, वाणी भी निरपेक्ष ।
चिंता से निर्लिप्त रहे, ख़ुद में ही सापेक्ष ॥१२-१॥

प्रीत्यभावेन शब्दादेर - दृश्यत्वेन चात्मनः ।
विक्षेपैकाग्रहृदय एवमेवाहमास्थितः ॥

शब्द, भाव से हो रहित, आत्म विषय न वास।
उदासीन मन से हुआ, अब एकाग्र निवास ॥१२-२॥

समाध्यासादिविक्षिप्तौ व्यवहारः समाधये ।
एवं विलोक्य नियमं एवमेवाहमास्थितः ॥

मिथ्या से विचलित नहीं, ध्यान भरा व्यवहार ।
सब कुछ नियमों से बँधा, स्थित में ही है सार ॥१२-३॥

हेयोपादेयविरहाद् एवं हर्षविषादयोः ।
अभावादद्य हे ब्रह्मन् एवमेवाहमास्थितः ॥

छोड़े या संग्रह करे, हर्ष-विषाद अभाव ।
हे! ब्रह्मन् मैं जानता, स्थित रहे स्वभाव ॥१२-४॥

आश्रमानाश्रमं ध्यानं चित्तस्वीकृत तवर्जनं ।
विकल्पं मम वीक्ष्यै - तैरेवमेवाहमास्थितः ।।
आश्रम हो या हो नहीं, वर्जित या स्वीकार ।
हो विकल्प मन में कई, स्थिर मेरा विचार ।।१२-५।।

कर्मानुष्ठानमज्ञानाद् यथैवोपरमस्तथा ।
बुध्वा सम्यगिदं तत्त्वं एवमेवाहमास्थितः ।।
कर्म किये अज्ञानवश, निवृत होकर काज ।
ज्ञान तत्व सम्यक् सदा, समझा मैं स्थित आज ।।१२-६।।

अचिंत्यं चिंत्यमानोऽपि चिन्तारूपं भजत्यसौ ।
त्यक्त्वा तद्भावनं तस्माद् एवमेवाहमास्थितः ।।
चिंतन करूँ अचिंत्य का, करता सोच विचार ।
चिंतन का भी त्याग करूँ, स्थिर मेरा आचार ।।१२-७।।

एवमेव कृतं येन स कृ तार्थो भवेदसौ ।
एवमेव स्वभावो यः स कृ तार्थो भवेदसौ ।।
हो ऐसा जब आचरण, मुक्ति मिले संसार ।
यह स्वभाव जिसका रहे, भवसागर से पार ।।१२-८।।

अष्टावक्र महागीता १३

जनक उवाच

अकिंचनभवं स्वास्थ्यं कौपीनत्वेऽपि दुर्लभं ।
त्यागादाने विहायास्माद - हमासे यथासुखम् ॥
कहना मेरा सहज ना, धर साधू का वेश ।
त्याग-ग्रहण आदत तजे, सुखमय हो परिवेश ॥१३-१॥

कुत्रापि खेदः कायस्य जिह्वा कुत्रापि खेद्यते ।
मनः कुत्रापि तत्त्यक्त्वा पुरुषार्थे स्थितः सुखम् ॥
तन-मन या वाणी रहे, खेद न कोई बात ।
त्याग प्रयासों को सभी, सदा सुखी मैं तात ॥१३-२॥

कृ तं किमपि नैव स्याद् इति संचिन्त्य तत्त्वतः ।
यदा यत्कर्तुमायाति तत् कृ त्वासे यथासुखम् ॥
कर्मों का अस्तित्व नहीं, तात्विक सकल विचार ।
कर्म सभी करता रहूँ, सदा सुखी व्यवहार ।१३-३॥

कर्मनैष्कर्म्यनिर्बन्ध - भावा देहस्थयोगिनः ।
संयोगायोगविरहादह - मासे यथासुखम् ॥
कर्म-अकर्म के भाव-बंध, योगी देह विराज ।
तज संयोग-वियोग सब, सदा सुखी हो राज ॥१३-४॥

अर्थानर्थौ न मे स्थित्या गत्या न शयनेन वा ।
तिष्ठन् गच्छन् स्वपन् तस्मादहमासे यथासुखम् ।।
शयन सपन बैठूँ चलूँ, गति हो या विश्राम ।
अर्थ अनर्थ हूँ परे, अतः यही सुखधाम ।।१३-५।।

स्वपतो नास्ति मे हानिः सिद्धिर्यत्नवतो न वा ।
नाशोल्लासौ विहायास् - मदहमासे यथासुखम् ।।
स्वप्नों में हानि नहीं, ना यत्नों में माल ।
शोक-हर्ष समता रहे, सदा सुखी है चाल ।।१३-६।।

सुखादिरूपा नियमं भावेष्वालोक्य भूरिशः ।
शुभाशुभे विहायास्मादह - मासे यथासुखम् ।।
सुख-दुख नियमित क्रम रहे, समझा यह आचार ।
शुभ-अशुभ से चिंतित ना, सदा सुखी संसार ।।१३-७।।

अष्टावक्र महागीता १४

जनक उवाच

प्रकृत्या शून्यचित्तो यः प्रमादाद् भावभावनः ।
निद्रितो बोधित इव क्षीण-संस्मरणो हि सः ॥
भावहीन इच्छारहित, जो भी होय स्वभाव ।
मुक्त पुरातन याद से, जाग सपन ना भाव ॥१४-१॥

क्व धनानि क्व मित्राणि क्व मे विषयदस्यवः ।
क्व शास्त्रं क्व च विज्ञानं यदा मे गलिता स्पृहा ॥
विषय मित्र या धन रहे, यह ना मेरा काम ।
शास्त्र रहे विज्ञान रहे, मैं हरदम निष्काम ॥१४-२॥

विज्ञाते साक्षिपुरुषे परमात्मनि चेश्वरे ।
नैराश्ये बंधमोक्षे च न चिंता मुक्तये मम ॥
साक्षी पुरु परमात्मा, ईश्वर का है भान ।
मोक्ष से निरपेक्ष हुआ, मोक्ष सोच ना जान ॥१४-३॥

अंतर्विकल्पशून्यस्य बहिः स्वच्छन्दचारिणः ।
भ्रान्तस्येव दशास्तास्तास्-तादृशा एव जानते ॥
विकल्पशून्य जो मैं रहूँ, हो स्वच्छन्द व्यवहार ।
मुक्त ही पहचान सके, मुक्तमना संसार ॥१४-४॥

अष्टावक्र महागीता १५

अष्टावक्र उवाच

यथातथोपदेशेन कृतार्थः सत्त्वबुद्धिमान् ।
आजीवमपि जिज्ञासुः परस्तत्र विमुह्यति ।।
सहज सीख भी तार दे, सात्विक बुद्धिमान ।।
आजीवन वंचित रहे, जिज्ञासु बिन ज्ञान ।।१५-१।।

मोक्षो विषयवैरस्यं बन्धो वैषयिको रसः ।
एतावदेव विज्ञानं यथेच्छसि तथा कुरु ।।
मिले मोक्ष, तज के विषय, बंधन रस हो जान ।
करिये वह जो ठीक हो, जब हो ऐसा ज्ञान ।।१५-२।।

वाग्मिप्राज्ञामहोद्योगं जनं मूकजडालसं ।
करोति तत्त्वबोधोऽयम-तस्त्यक्तो बुभुक्षभिः ।।
मितभाषी सुबुद्धि जन, तत्वज्ञान की चाह ।
जीवन वो ऐसे जिये, रहे मौन की राह ।।१५-३।।

न त्वं देहो न ते देहो भोक्ता कर्ता न वा भवान् ।
चिद्रूपोऽसि सदा साक्षी निरपेक्षः सुखं चर ।।
न तन तेरा ना देह तू, भोग न कर्ता मान ।
चेतन, साक्ष, इच्छा रहित, रहना सुख-सम्मान ।।१५-४।।

रागद्वेषौ मनोधर्मौ न मनस्ते कदाचन ।
निर्विकल्पोऽसि बोधात्मा निर्विकारः सुखं चर ।।
राग-द्वेष मन के धरम, आप नहीं 'मन' जान ।
बिन विकार बिन कामना, ज्ञानरुप सुख मान ।।१५-५।।

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
विज्ञाय निरहंकारो निर्ममस्त्वं सुखी भव ।।
सकल जीव तुझमें बसे, तू बसता सब जीव ।
अहंकार आसक्ति तज, रख ले सुख की नींव ।।१५-६।।

विश्वं स्फुरति यत्रेदं तरंगा इव सागरे ।
तत्त्वमेव न सन्देह - श्चिन्मूर्ते विज्वरो भव ।।
सागर से लहरें उठे, जग वैसे तू आय ।
निःसन्देह चैतन्य तू, चिंता रहित उपाय ।।१५-७।।

श्रद्धस्व तात श्रद्धस्व नात्र मोऽहं कुरुष्व भोः ।
ज्ञानस्वरूपो भगवा-नात्मा त्वं प्रकृतेः परः ।।
निष्ठा-श्रद्धा अनुभव पे, मत मोहित हो तात ।
ज्ञानरूप भगवान तू, है निसर्ग बिन बात ।।१५-८।।

गुणैः संवेष्टितो देह-स्तिष्ठत्यायाति याति च ।
आत्मा न गंता नागंता किमेनमनुशोचसि ।।
देह गुणों से है बने, जन्म-मरण का राग ।
आई गई ना आत्मा, शोक न तेरा भाग ।।१५-९।।

देहस्तिष्ठतु कल्पान्तं गच्छत्वद्यैव वा पुनः।
क्व वृद्धिः क्व च वा हानिस्-तव चिन्मात्ररूपिणः॥
रहे अंत तक देह यह, या फिर नष्ट हो आज।
क्या हानि या लाभ हैं, चैतन का ना काज॥१५-१०॥

त्वय्यनंतमहांभोधौ विश्ववीचिः स्वभावतः।
उदेतु वास्तमायातु न ते वृद्धिर्न वा क्षतिः॥
ज्यूँ सागर लहरें उठें, उसका यही स्वभाव।
उदय-अस्त जग तुझसे है, बढ़े-घटे ना भाव॥१५-११॥

तात चिन्मात्ररूपोऽसि न ते भिन्नमिदं जगत्।
अतः कस्य कथं कुत्र हेयोपादेयकल्पना॥
तुम चैतन्य स्वरूप हो, अलग नहीं जग जान।
ऊँच-नीच कोई नहीं, हो ना सोच सुजान॥१५-१२॥

एकस्मिन्नव्यये शान्ते चिदाकाशेऽमले त्वयि।
कुतो जन्म कुतो कर्म कुतोऽहंकार एव च॥
शांत अनन्त आकाश में, तुम हो खड़े कुमार।
क्या जन्म, कैसा करम, कैसा ये अहंकार॥१५-१३॥

यत्त्वं पश्यसि तत्रैकस्-त्वमेव प्रतिभाससे।
किं पृथक् भासते स्वर्णात् कटकांगदनूपुरम्॥
तू है एक, अनेक दिखे, प्रतिबिंबित हो काँच।
कंगना या पायल रहे, सोना ही है साँच॥१५-१४॥

अयं सोऽहमयं नाहं विभागमिति संत्यज ।
सर्वमात्मेति निश्चित्य निःसङ्कल्पः सुखी भव ॥
यह मैं हूँ यह मैं नहीं, करो द्वैत का त्याग ।
तुम ही आत्स्वरूप सकल, संकल्प बिना सुख जाग ॥१५-१५॥

तवैवाज्ञानतो विश्वं त्वमेकः परमार्थतः ।
त्वत्तोऽन्यो नास्ति संसारी नासंसारी च कश्चन ॥
तुम ही जगत, अज्ञान हैं, तुम हो एक सुजान ।
संसारी दूजा नहीं, तुम से अलग न जान ॥१५-१६॥

भ्रान्तिमात्रमिदं विश्वं न किंचिदिति निश्चयी ।
निर्वासनः स्फूर्तिमात्रो न किंचिदिव शाम्यति ॥
भ्रान्तिमात्र है यह जगत, ऐसा निश्चित जान ।
त्याग चाह-चेष्टा रहित, नहीं शांति का भान ॥१५-१७॥

एक एव भवांभोधा - वासीदस्ति भविष्यति ।
न ते बन्धोऽस्ति मोक्षो वा कृत्यकृत्यः सुखं चर ॥
भवसागर बस एक है, सदा रहेगा एक ।
मोक्ष-बंध तुममें नहीं, सुख विचरण कर नेक ॥१५-१८॥

मा सङ्कल्पविकल्पाभ्यां चित्तं क्षोभय चिन्मय ।
उपशाम्य सुखं तिष्ठ स्वात्मन्यानन्दविग्रहे ॥
संकल्प-विकल्प के फेर में, करो न चित्त अशांत ।
सुखपूर्वक आनंद में, कर लो मन को शांत ॥१५-१९॥

त्यजैव ध्यानं सर्वत्र मा किंचिद् हृदि धारय ।
आत्मा त्वं मुक्त एवासि किं विमृश्य करिष्यसि ॥
तजो ध्यान सब ओर से, मन में शांति अपार ।
आत्मरूप तुम मुक्त हो, हो न कोई विचार ॥१५-२०॥

अष्टावक्र महागीता १६

अष्टावक्र उवाच

आचक्ष्व शृणु वा तात नानाशास्त्राण्यनेकशः ।
तथापि न तव स्वास्थ्यं सर्वविस्मरणाद् ऋते ।।
सुनकर ज्ञानी से वचन, पढ़ कर शास्त्र अनेक ।
मिले रूप वैसा नहीं, उचित अचेत हरेक ।।१६-१।।

भोगं कर्म समाधिं वा कुरु विज्ञ तथापि ते ।
चित्तं निरस्तसर्वाशाम - त्यर्थं रोचयिष्यति ।।
कर्म - ध्यान लीन हो, पर तुम हो विद्वान ।
शांत रखो मन कामना, आनन्दित हो भान ।।१६-२।।

आयासात्सकलो दुःखी नैनं जानाति कश्चन ।
अनेनैवोपदेशेन धन्यः प्राप्नोति निर्वृतिम् ।।
दुखी प्रयत्नों से सदा, लोग न ऐसा मान ।
होय धन्य उपदेश से, वृत्तिरहित हो जान ।।१६-३।।

व्यापारे खिद्यते यस्तु निमेषोन्मेषयोरपि ।
तस्यालस्य धुरीणस्य सुखं नन्यस्य कस्यचित् ।।
पलके खोलें बंद करें, वो भी लगता काज ।
सुखी रहे वो आलसी, और न जाने राज ।।१६-४।।

इदं कृतमिदं नेति द्वंद्वैर्मुक्तं यदा मनः ।
धर्मार्थकाममोक्षेषु निरपेक्षं तदा भवेत् ॥
करूँ न करूँ के द्वन्द से, मुक्त हो जब इंसान ।
काम, मोक्ष धर्मार्थ की, रहे चाह ना जान ॥१६-५॥

विरक्तो विषयद्वेष्टा रागी विषयलोलुपः ।
ग्रहमोक्षविहीनस्तु न विरक्तो न रागवान् ॥
विषय-द्वेष विरक्त नहीं, विषय न लोलुप राग ।
ग्रहण-त्याग के बिन बने, राग-द्वेष से जाग ॥१६-६॥

हेयोपादेयता तावत् - संसारविटपांकुरः ।
स्पृहा जीवति यावद् वै निर्विचारदशास्पदम् ॥
लेन-देन हो भावना, जग अंकुर का वास ।
जीवन मुक्ति चाहिये, सोच हीन आवास ॥१६-७॥

प्रवृत्तौ जायते रागो निर्वृत्तौ द्वेष एव हि ।
निर्द्वन्द्वो बालवद् धीमान् एवमेव व्यवस्थितः ॥
राग प्रवृत्ति से जगे, निवृत्त होकर द्वेष ।
हो विरक्त बालक सरिस, स्थापित हो परिवेश ॥१६-८॥

हातुमिच्छति संसारं रागी दुःखजिहासया ।
वीतरागो हि निर्दुःखस्-तस्मिन्नपि न खिद्यति ॥
चाहे दुख से भागना, जग तजने तैयार ।
सुखी विरक्त हर हाल में, दुख व दर्द से पार ॥१६-९॥

यस्याभिमानो मोक्षेऽपि देहेऽपि ममता तथा ।
न च ज्ञानी न वा योगी केवलं दुःखभागसौ ॥
मोक्ष की भी चाह है, रहे देह से प्यार ।
ना ज्ञानी, योगी नहीं, दुख ही मिले अपार ॥१६-१०॥

हरो यद्युपदेष्टा ते हरिः कमलजोऽपि वा ।
तथापि न तव स्वाथ्यं सर्वविस्मरणादृते ॥
ब्रह्मा विष्णु महेश भी, हो उपदेशक हाथ ।
मिले विस्मृति बिन नहीं, आत्मरुप का साथ ॥१६-११॥

अष्टावक्र महागीता १७

अष्टावक्र उवाच

तेन ज्ञानफलं प्राप्तं योगाभ्यासफलं तथा ।
तृप्तः स्वच्छेन्द्रियो नित्यं एकाकी रमते तु यः ॥
उसने पाया ज्ञानफल, योग सफल अभ्यास ।
इन्द्रजीत ख़ुद में रहे, बची न कोई प्यास ॥१७-१॥

न कदाचिज्जगत्यस्मिन् तत्त्वज्ञा हन्त खिद्यति ।
यत एकेन तेनेदं पूर्णं ब्रह्माण्डमण्डलम् ॥
जान तत्व जिसने लिया, नहीं दुखी वह जान ।
एक ब्रह्म से है सकल, समझो विश्व विधान ॥१७-२॥

न जातु विषयाः केऽपि स्वारामं हर्षयन्त्यमी ।
सल्लकीपल्लवप्रीत - मिवेभं निंबपल्लवाः ॥
जो रमता निज आत्म में, विषय न उसको भाय ।
पर्ण सलाई पात लगे, नीम न हस्ति चबाय ॥१७-३॥

यस्तु भोगेषु भुक्तेषु न भवत्यधिवासिता ।
अभुक्तेषु निराकांक्षी तदृशो भवदुर्लभः ॥
ना भोगा ना भोग्य है, आसक्ति नहीं भाव ।
ऐसे जन इच्छारहित, दुर्लभ है हर गाँव ॥१७-४॥

बुभुक्षुरिह संसारे मुमुक्षुरपि दृश्यते ।
भोगमोक्षनिराकांक्षी विरलो हि महाशयः ॥
भोग-मोक्ष जो चाहते, दोनों मिले अनेक ।
दोनों इच्छा से रहित, मिले न कोई एक ॥१७-५॥

धर्मार्थकाममोक्षेषु जीविते मरणे तथा ।
कस्याप्युदारचित्तस्य हेयोपादेयता न हि ॥
काम-मोक्ष या धर्म-अर्थ, जीना-मरना तात ।
अनुपयोग-उपयोग भी, सम महात्मा बात ॥१७-६॥

वांछा न विश्वविलये न द्वेषस्तस्य च स्थितौ ।
यथा जीविकया तस्माद् धन्य आस्ते यथा सुखम् ॥
विश्व लीनता चाह नहीं, ना है इससे द्वेष ।
धन्य रहे हर हाल में, सुखी रहे परिवेश ॥१७-७॥

कृतार्थोऽनेन ज्ञानेने-त्येवं गलितधीः कृती ।
पश्यन् शृण्वन् स्पृशन् जिघ्रन् अश्नन्नस्ते यथा सुखम् ॥
ज्ञान का उपकार रहे, बुद्धि अन्तर्ध्यान ।
स्पर्श देख-सुन, सूंघ के, खाये सुख से जान ॥१७-८॥

शून्या दृष्टिर्वृथा चेष्टा विकलानीन्द्रियाणि च ।
न स्पृहा न विरक्तिर्वा क्षीणसंसारसागरे ॥
दृष्टि शून्य और इन्द्रियाँ, चेष्टाओं का नाश ।
नहीं विरक्ति या आसक्ति, क्षीण जगत ना रास ॥१७-९॥

न जगर्ति न निद्राति नोन्मीलति न मीलति ।
अहो परदशा क्वापि वर्तते मुक्तचेतसः ॥
ना जागे, सोयें नहीं, बंद न खोले आँख ।
परम मुक्त चैतन्यता, बिरला ऐसी शाख़ ॥१७-१०॥

सर्वत्र दृश्यते स्वस्थः सर्वत्र विमलाशयः ।
समस्तवासना मुक्तो मुक्तः सर्वत्र राजते ॥
मन हर पल स्थापित दिखे, सदा साफ़ अभिप्राय ।
सकल वासना मुक्त रहे, मुक्त सदा ही पाय ॥१७-११॥

पश्यन् शृण्वन् स्पृशन् जिघ्रन् अश्नन् गृण्हन् वदन् व्रजन् ।
ईहितानीहितैर्मुक्तो मुक्त एव महाशयः ॥
देख, सुन, सूँघ, स्पर्श करे, खा, लेन, बोल-चाल ।
इच्छा रहे या न रहे, मुक्त महात्म्य कमाल ॥१७-१२॥

न निन्दति न च स्तौति न हृष्यति न कुप्यति ।
न ददाति न गृण्हाति मुक्तः सर्वत्र नीरसः ॥
निंदा ना स्तुति करे, ख़ुशी न हो नाराज़ ।
लेता-देता ना कभी, मुक्त विरक्त है आज ॥१७-१३॥

सानुरागां स्त्रियं दृष्ट्वा मृत्युं वा समुपस्थितं ।
अविह्वलमनाः स्वस्थो मुक्त एव महाशयः ॥
नेह सहित नारी रहे, या सम्मुख यमराज ।
उदासीन सबसे रहे, मुक्त महाशय आज ॥१७-१४॥

सुखे दुःखे नरे नार्यां संपत्सु विपत्सु च ।
विशेषो नैव धीरस्य सर्वत्र समदर्शिनः ॥
सुख-दुख, नर-नारी रहे, धनो विनाश समान ।
जन की धीर विशेषता, पड़े एक सा जान ॥१७-१५॥

न हिंसा नैव कारुण्यं नौद्धत्यं न च दीनता ।
नाश्चर्यं नैव च क्षोभः क्षीणसंसरणे नरे ॥
हिंसा ना करुणा नहीं, गर्व, दीन नहीं भाव ।
क्षोभ न अचरज जगत से, जग से नहीं जुड़ाव ॥१७-१६॥

न मुक्तो विषयद्वेष्टा न वा विषयलोलुपः ।
असंसक्तमना नित्यं प्राप्ताप्राप्तमुपाश्नृते ॥
मुक्त पुरुष रखता नहीं, विषय-द्वेष या राग ।
भले मिले या ना मिले, समता भरा विराग ॥१७-१७॥

समाधानसमाधान - हिताहितविकल्पनाः ।
शून्यचित्तो न जानाति कैवल्यमिव संस्थितः ॥
समाधान-संदेह परे, हित ना अहित विचार ।
शून्य चित्त का भाव लिये, मोक्ष यही है सार ॥१७-१८॥

निर्ममो निरहंकारो न किंचिदिति निश्चितः ।
अन्तर्गलितसर्वाशः कुर्वन्नपि करोति न ॥
अहंकार न ममत्व ही, जग में मिथ्या भान ।
करता पर करता नहीं, इच्छा रहित सुजान ॥१७-१९॥

मनःप्रकाशसंमोह स्वप्नजाड्यविवर्जितः ।
दशां कामपि संप्राप्तो भवेद् गलितमानसः ।।

मन प्रकाशित मोह नहीं, जड़ता-स्वप्न समान ।
दशा लगे सब कुछ मिला, बिन इच्छा मन जान ।।१७-२०।।

अष्टावक्र महागीता १८

अष्टावक्र उवाच

यस्य बोधोदये तावत्-स्वप्नवद् भवति भ्रमः ।
तस्मै सुखैकरूपाय नमः शान्ताय तेजसे ।।
जब उदय हो ज्ञान का, यूँ सपने से जाग ।
कर ले उस सुख को नमन, शांति तेज़ का राग ।।१८-१।।

अर्जयित्वाखिलान् अर्थान् भोगानाप्नोति पुष्कलान् ।
न हि सर्वपरित्याजम-न्तरेण सुखी भवेत् ।।
साधन अर्जित सब करें, भोगे जगत प्रताप ।
त्याग बिना इस भोग का, सुखी न होवे आप ।।१८-२।।

कर्तव्यदुःखमार्तण्डज्वालादग्धान्तरात्मनः ।
कुतः प्रशमपीयूषधारा - सारमृते सुखम् ।।
कर्तव्य-दुःख अति तेज अगन, अन्तर्मन जल जाय ।
कैसे अमृत-धार मिले, कर्म त्याग सुख भाय ।।१८-३।।

भवोऽयं भावनामात्रो न किंचित् परमर्थतः ।
नास्त्यभावः स्वभावनां भावाभावविभाविनाम् ।।
परमारथ कुछ भी नहीं, भाव-अभाव स्वभाव ।
स्थित पदार्थ का भी नहीं, कोई कहीं अभाव ।।१८-४।।

न दूरं न च संकोचाल्-लब्धमेवात्मनः पदं ।
निर्विकल्पं निरायासं निर्विकारं निरंजनम् ।।
मिली हुई है आत्मा, नहीं दूर ना पास ।
वास वहीं तेरा निर्मल, नहीं विकल्प प्रयास ।।१८-५।।

व्यामोहमात्रविरतौ स्वरूपादानमात्रतः ।
वीतशोका विराजन्ते निरावरणदृष्टयः ।।
अज्ञान से पर्दा उठे, ज्ञान साक्षात्कार ।
शोक रहित स्वराज करे, होते दूर विकार ।।१८-६।।

समस्तं कल्पनामात्र-मात्मा मुक्तः सनातनः ।
इति विज्ञाय धीरो हि किमभ्यस्यति बालवत् ।।
सब कुछ कोरी कल्पना, मुक्त आत्मा जान ।
धीर पुरुष जाने सदा, क्यूँ कर बाल समान ।।१८- ७।।

आत्मा ब्रह्मेति निश्चित्य भावाभावौ च कल्पितौ ।
निष्कामः किं विजानाति किं ब्रूते च करोति किम् ।।
आत्मा निश्चित ब्रह्म है, मिथ्या भाव-अभाव ।
फिर क्या जाने, क्या कहे, कर निष्काम स्वभाव ।।१८-८।।

अष्टावक्र महागीता १९

जनक उवाच

तत्त्वविज्ञानसन्दंश - मादाय हृदयोदरात् ।
नानाविधपरामर्श - शल्योद्धारः कृतो मया ॥
तत्व ज्ञान की है चिमटी, मन में शूल हज़ार ।
अन्तरमन बस छाँट लो, कर दी भूल सुधार ॥१९-१॥

क्व धर्मः क्व च वा कामः क्व चार्थः क्व विवेकिता ।
क्व द्वैतं क्व च वाऽद्वैतं स्वमहिम्नि स्थितस्य मे ॥
क्या धर्म, क्या काम है, अर्थ विवेक न सार ।
द्वैत-अद्वैत है क्या यहाँ, स्थित स्वयश आकार ॥१९-२॥

क्व भूतं क्व भविष्यद् वा वर्तमानमपि क्व वा ।
क्व देशः क्व च वा नित्यं स्वमहिम्नि स्थितस्य मे ॥
क्या भविष्य क्या भूत है, वर्तमान क्या भान ।
क्या देश क्या काल यहाँ, निज महिमा में जान ॥१९-३॥

क्व चात्मा क्व च वानात्मा क्व शुभं क्वाशुभं तथा ।
क्व चिन्ता क्व च वाचिन्ता स्वमहिम्नि स्थितस्य मे ॥
क्या आत्मा क्या अनात्मा, शुभ या अशुभ समान ।
क्या चिंता क्या है नहीं, निज महिमा में जान ॥१९-४॥

क्व स्वप्नः क्व सुषुप्तिर्वा क्व च जागरणं तथा ।
क्व तुरियं भयं वापि स्वमहिम्नि स्थितस्य मे ।।
क्या स्वप्न, क्या निद्रा है, जागे एक समान ।
भय है क्या, क्या शून्य है, निज महिमा में जान ।।१९-५।।

क्व दूरं क्व समीपं वा बाह्यं क्वाभ्यन्तरं क्व वा ।
क्व स्थूलं क्व च वा सूक्ष्मं स्वमहिम्नि स्थितस्य मे ।।
क्या दूर क्या पास है, भीतर बाह्य समान ।
क्या छोटा, क्या है बड़ा, निज महिमा में जान ।।१९-६।।

क्व मृत्युर्जीवितं वा क्व लोकाः क्वास्य क्व लौकिकं ।
क्व लयः क्व समाधिर्वा स्वमहिम्नि स्थितस्य मे ।।
जन्म मृत्यु आखिर है क्या, लोक-अलोक समान ।
लय है क्या, समाधि क्या, निज महिमा में जान ।।१९-७।।

अलं त्रिवर्गकथया योगस्य कथयाप्यलं ।
अलं विज्ञानकथया विश्रान्तस्य ममात्मनि ।।
तीन उद्देश्य निर्रथक है, योग कथा बेकार ।
अर्थहीन विज्ञान कथन, स्थित आत्म विचार ।।१९-८।।

अष्टावक्र महागीता २०

जनक उवाच

क्व भूतानि क्व देहो वा क्वेन्द्रियाणि क्व वा मनः ।
क्व शून्यं क्व च नैराश्यं मत्स्वरूपे निरंजने ॥
पंचभूत या तन कहाँ, मन इन्द्रि नहीं भान ।
नहीं निराश शून्य कहाँ, मै निर्दोष सुजान ॥२०-१॥

क्व शास्त्रं क्वात्मविज्ञानं क्व वा निर्विषयं मनः ।
क्व तृप्तिः क्व वितृष्णत्वं गतद्वन्द्वस्य मे सदा ॥
आत्मज्ञान क्या, शास्त्र क्या, विषयरहित ना भान ।
क्या तृष्णा, या तृप्ति क्या, सदा द्वन्द बिन मान ॥२०-२॥

क्व विद्या क्व च वाविद्या क्वाहं क्वेदं मम क्व वा ।
क्व बन्ध क्व च वा मोक्षः स्वरूपस्य क्व रूपिता ॥
क्या विद्या, अविद्या क्या, मेरा-तेरा भान ।
क्या बंधन, क्या मोक्ष भी, सदा एक रूप जान ॥२०-३॥

क्व प्रारब्धानि कर्माणि जीवन्मुक्तिरपि क्व वा ।
क्व तद् विदेहकैवल्यं निर्विशेषस्य सर्वदा ॥
क्या है ये प्रारब्ध कर्म, क्या जीवन मुक्ति ज्ञान ।
सदा विशेषण तन रहित, क्या मोक्ष पहचान ॥२०-४॥

क्व कर्ता क्व च वा भोक्ता निष्क्रियं स्फुरणं क्व वा ।
क्वापरोक्षं फलं वा क्व निःस्वभावस्य मे सदा ।।
क्या है कर्ता भोक्ता, जड़-चेतन सम मान ।
क्रियाशीलता निष्क्रियता, है स्वभाव बिन जान ।।२०-५।।

क्व लोकं क्व मुमुक्षुर्वा क्व योगी ज्ञानवान् क्व वा ।
क्व बद्धः क्व च वा मुक्तः स्वस्वरूपेऽहमद्वये ।।
क्या जगत क्या मुक्तता, योगी कौन सुजान ।
बँधा कौन या मुक्त बता, अद्वय मुझको मान ।।२०-६।।

क्व सृष्टिः क्व च संहारः क्व साध्यं क्व च साधनं ।
क्व साधकः क्व सिद्धिर्वा स्वस्वरूपेऽहमद्वये ।।
क्या सृष्टि, संहार क्या, साधन साध्य समान ।
कौन है साधक, सिद्धि क्या, अद्वय मुझको मान ।।२०-७।।

क्व प्रमाता प्रमाणं वा क्व प्रमेयं क्व च प्रमा ।
क्व किंचित् क्व न किंचिद् वा सर्वदा विमलस्य मे ।।
क्या ज्ञाता, क्या साक्ष्य है, क्या ज्ञेय, क्या ज्ञान ।
क्या अल्पतम क्या सकल, सदा हूँ निर्मल जान ।।२०-८।।

क्व विक्षेपः क्व चैकाग्र्यं क्व निर्बोधः क्व मूढता ।
क्व हर्षः क्व विषादो वा सर्वदा निष्क्रियस्य मे ।।
ध्यान नहीं, चैतन्य रहूँ, ज्ञानी-मूर्ख समान ।
क्या ख़ुशी, दुख भी नहीं, सदा ही निष्क्रिय मान ।।२०-९।।

क्व चैष व्यवहारो वा क्व च सा परमार्थता ।
क्व सुखं क्व च वा दुखं निर्विमर्शस्य मे सदा ॥
क्या जग यह मेरे लिये, परमारथ ना काम ।
क्या है सुख-दुख में रखा, बिना विचार मुकाम ॥२०-१०॥

क्व माया क्व च संसारः क्व प्रीतिर्विरतिः क्व वा ।
क्व जीवः क्व च तद्ब्रह्म सर्वदा विमलस्य मे ॥
क्या माया, संसार क्या, राग-द्वेष समान ।
क्या जीव क्या ब्रह्म है, सदा शुद्ध मैं मान ॥२०-११॥

क्व प्रवृत्तिर्निर्वृत्तिर्वा क्व मुक्तिः क्व च बन्धनं ।
कूटस्थनिर्विभागस्य स्वस्थस्य मम सर्वदा ॥
अनासक्ति-आसक्ति क्या, मुक्ति-बन्धन समान ।
स्थित रहूँ बँटता नहीं, स्वस्थ सदा हूँ मान ॥२०-१२॥

क्वोपदेशः क्व वा शास्त्रं क्व शिष्यः क्व च वा गुरुः ।
क्व चास्ति पुरुषार्थो वा निरुपाधेः शिवस्य मे ॥
शास्त्र क्या उपदेश क्या, शिष्य-गुरु है कौन ।
पुरुषार्थ योग्य कुछ नहीं, शिवरूप हूँ मौन ॥२०-१३॥

क्व चास्ति क्व च वा नास्ति के वास्ति चैकं क्व च द्वयं ।
बहुनात्र किमुक्तेन किंचिन्नोत्तिष्ठते मम ॥
क्या है और क्या नहीं, क्या है द्वैत-अद्वैत ।
और मैं अब क्या कहूँ, भाव नहीं है द्वैत ॥२०-१४॥